

आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त

आयुर्वेद भारतीय समाज का प्राचीनतम स्वास्थ्य चिंतन परक ज्ञान है। यह सर्वविदित है कि आयुर्वेद का उद्भव वेदों से हुआ है। जिसका अथर्ववेद में विशेष वर्णन है। वेद का अर्थ है ज्ञान, अतः आयुर्वेद का अर्थ हुआ आयु का ज्ञान। शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा के संयोग को आयु कहा जाता है। आत्मा इन्द्रियों और मन के साथ शरीर में प्रतिष्ठित रहता है। जब तक आत्मा या प्राण शरीर में है, तब तक शरीर जीवित और क्रियाशील रहता है। जिस प्रकार अवयव-अवयवी पदार्थ, उत्पत्ति के समय से ही अपृथक् रहते हैं। नष्ट होने के पश्चात् ही उनका पृथक्त्व सिद्ध है। जिसके अभाव में अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है, चाहे वह अवयवी हो या शरीर। उसी प्रकार "सिद्धान्तो नाम सः यः परीक्षकैर्बहुविधं परीक्ष्य हेतुभिश्च साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः" अर्थात् जो परीक्षकों के द्वारा अनेक बार परीक्ष्य विषयों की परीक्षा करके और हेतुओं के द्वारा उन परीक्ष्य विषयों को सिद्ध करके, जो स्थायी निर्णय दिया जाता है, उसे सिद्धान्त कहते हैं। अतः इस प्रकार जो मूल या प्राण या आत्मा को लक्ष्य करके सिद्धान्त बनाये जाते हैं, उन्हें मौलिक सिद्धान्त कहा जाता है। इसी कारण आयुर्वेद के सिद्धान्त सदैव अपरिवर्तशील और स्थिर हैं। आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त इस प्रकार हैं-

5.1 त्रिगुण

आयुर्वेद में त्रिगुण महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। सत्त्व, रजस् और तमस् ये त्रिगुण प्रकृति में विद्यमान रहते हैं। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि सत्त्व, रजस् और तमस् त्रिगुण की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है। यह सांख्य दर्शन में सिद्ध है। चरक प्रकृति शब्द का अर्थ साम्यावस्था करते हैं। पुनरपि आयुर्वेद में शरीर प्रकृति का सम्बन्ध दोषों से माना गया है और रज आदि से मानस प्रकृति का सम्बन्ध माना गया है। ये दोनों ही आयुर्वेद के आधार स्तम्भ माने जाते क्योंकि शरीर और मन दोनों की चिकित्सा आयुर्वेद का लक्ष्य है। गर्भाधान के समय माँ के गर्भाशय में वीर्य और रजस् गुण का संयोग हा। उसी वात दोष, पित्त दोष या कफ, इनमें से जिसकी अधिकता रहती है, अनुसार मनुष्य की प्रकृति का निर्माण माना गया है। यहाँ त्रिगुण का अर्थ धर्म नहीं है, अपितु सत्त्वादि द्रव्य पदार्थ है, क्योंकि ये पदार्थ संयोग और वियोग से होते हैं। सत्त्व, रजस् और तमस् ये द्रव्य पदार्थ प्रकृति के उपादान तत्व हैं। गुणों में दो परिणामों को देखा जाता है - प्रलय के समय प्रत्येक गुण एक दूसरे से पृथक् होकर स्वयं को स्वयं में बदल लेता है। इस अवस्था में ये गुण कोई कार्य सम्पन्न नहीं कर सकते हैं, क्योंकि पृथक् होने से इनकी शक्ति क्षीण हो जाती है। सृष्टि से पूर्व त्रिगुण साम्य अवस्था में विद्यमान रहते हैं, दूसरे प्रकार का परिणाम यह है कि किसी गुण की अधिकता के कारण सृष्टि की उत्पत्ति होती है। संसार की सभी वस्तुएँ त्रिगुणात्मक होती हैं। ये त्रिगुण समस्त विश्व के सभी कामों के उत्पत्ति कर्ता हैं। इनके संयोग विना कोई कार्य सम्भव नहीं है। आयुर्वेद में रजस् और तमस् गुण को मानस दोष का कारण माना गया है, क्योंकि प्राणियों में मानसिक दोषों की उत्पत्ति इन्हीं दोषों से होती है। चक्रपाणि के अनुसार वायु, पित्त तथा कफ शारीरिक दोष के कारण होते हैं और मानस दोष रजस् और तमस् के कारणभूत होते हैं, इनमें सत्त्व गुण सर्वथा शुद्ध एवं विकार से रहित माना गया रजस् और तमस् गुण के कारण ही मन सभी भूतों से बद्ध है। तत्त्व ज्ञान के कारण ही वह दोषों से मुक्त हो सकता है। संसार में देहान्तर गमन और आगमन का कारण दोष युक्त मन ही होता है। चरक के अनुसार भी रजस् और तमस् का अनुबन्ध निश्चित कहा गया है। रजस् से पृथक् तमस् की प्रवृत्ति ही सम्भव नहीं है। प्रकृति अपरिवर्तनशील है, किन्तु त्रिगुणों के अनुसार प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होती हैं-

1. सात्विक प्रकृतियाँ:- सत्त्व गुण की मात्रा अधिक होने पर निर्दोष प्रकृतियाँ उत्पन्न होती हैं-ब्रह्म, महेन्द्र, वारुण, कौबेर, गान्धर्व, याम्य और ऋषिसत्त्व।
2. राजस प्रकृतियाँ:- ये छः प्रकार की मानी जाती हैं - आसुर, सर्प, शकुन, राक्षस, पैशाच और प्रेमसत्त्व।
3. तामस प्रकृतियाँ:- यह भी त्रिविध होती है - पशुसत्त्व, मत्स्यसत्त्व और वानस्पत्य।

इनके लक्षण चरक और सुश्रुत संहिता शारीर स्थान अध्याय में द्रष्टव्य हैं।

5.2 पञ्चमहाभूत

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँच तत्त्व ही पञ्चमहाभूत कहलाते हैं। पञ्चमहाभूतों से ही इन मानव शरीरों, आहार द्रव्यों और औषधि द्रव्यों का निर्माण हुआ है। इन पञ्च महाभूतों की अधिकता या कमी ही शरीर में विकार उत्पन्न करती है, उसे ही दूर करने के लिए उसी के अनुसार औषधि द्रव्यों में घटने या वृद्धि करने वाले तत्त्वों का समावेश किया जाता है। वैसे प्रत्येक पदार्थ या शरीर में ये पञ्चमहाभूत विद्यमान होते हैं, किन्तु सभी में किसी एक महाभूत की प्रधानता होती है, इसी कारण जिस महाभूत की प्रधानता होती है, वह उसी के अनुसार आकाशीय, वायव्य, आग्नेय, आप्य और पार्थिव द्रव्य कहलाते हैं। जड़ धातु में क्ल प्रत्यय लगाकर भूत शब्द बना है। जिसका अभिप्राय है जिसकी सत्ता हो अर्थात् जो विद्यमान होता है, वह भूत कहलाता है। भूत किसी के कार्य नहीं हो सकते हैं, अपितु ये उपादान कारण हैं, क्योंकि पञ्चभूतों से महाभूत उत्पन्न होते हैं, चरकाचार्य के अनुसार पञ्चभूत कारण द्रव्य, नित्य, अतिसूक्ष्म एवं इन्द्रियातीत होते हैं। पञ्चमहाभूत संसार के सभी चल-अचल वस्तुओं का निर्माता है। प्रत्येक वस्तुओं में जो गुण होता है, वह इन पञ्च महाभूतों की प्रधानता के कारण ही होता है। इनकी पहचान के लिए संक्षेप इनका निरूपण आवश्यक है-

1. पार्थिव द्रव्य:- पार्थिव द्रव्य, भारी, गुरू, कठिन, मन्द, सान्द्र, स्थूल, स्थिर, गन्ध से युक्त, चिपचिपेपन से रहित होता है। इनके सेवन से शरीर में उपचय (धातुओं की वृद्धि), कठिन्य, स्थैर्य, स्थूलता, मोटापा इत्यादि की वृद्धि होती है।
2. आप्य द्रव्य:- जो द्रव्य द्रव, स्निग्ध, शीत, गुरू, मन्द, सान्द्र, सरल, मृदु, रस गुण युक्त होती है, वह जलीय या आप्य द्रव्य होता है। उसके सेवन से शरीर में आर्द्रता, स्नेह, बन्ध, मार्दव और तृप्ति की वृद्धि होती है।
3. तैजस द्रव्य:- तीक्ष्ण, उष्ण, रुक्ष, सूक्ष्म, लघु, विशद रूप गुण से युक्त, चिपचिपेपन से रहित होते हैं। इनके सेवन से शरीर में जलन, पाक, प्रकाश, प्रभा, वर्ण, निखार इत्यादि होता है।
4. वायव्य द्रव्य:- रुक्ष, सूक्ष्म, लघु, विशद, शीत, खर, स्पर्श गुण युक्त, खुरदरे होते हैं। इसके सेवन से शरीर में मृदुता, सुषिरता, लघुता, चंचलता और सान्द्रता की अधिकता होती है।
5. आकाशीय द्रव्य:- मृदु, सूक्ष्म, हल्के, समतल, शीतल, खुरदुरे, विशद और शब्द गुण से युक्त होते हैं। इनके सेवन से शरीर में रुक्षता, लघुता, खुरदुरापन, गति, फुर्तीलापन इत्यादि आता है।

इन पञ्चमहाभूत द्रव्यों के गुणों और शरीर पर उसके प्रभाव को देखकर यह कहा जा सकता है कि शरीर में मुख्य रूप से पृथ्वी और जल महाभूत की प्रधानता होती है, अन्य महाभूत आंशिक रूप से विद्यमान होते हैं। पाचन कर्म आग्नेय, चेष्य इत्यादि कार्य वायव्य महाभूत के कारण होता है। हमारे शरीर में जो महाभूत अधिक या कम हो जाते हैं, उसे उसी क्रम में अधिक या कम कर लेना चाहिए। जिससे शरीर हेतु संतुलित पञ्चमहाभूत का भी संतुलन बना रहता

5.3 त्रिदोष

यद्यपि मानव शरीर पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न हुआ है, किन्तु उसका परिचालन जल, अग्नि और वायु तीन महाभूतों के द्वारा ही होता है। इस समस्त संसार में यह तीनों पञ्चमहाभूत सूर्य, चन्द्र और वायु के रूप में प्राकृतिक और शरीरिक रूप में इनका प्रतिनिधित्व वात (वायु) पित्त (सूर्य) और कफ (जल) शरीरिक क्रियाओं का संचालन करते हैं। इन तीनों का कार्य शरीर में इस प्रकार का है- वायु का कार्य विक्षेप अर्थात् शारीरिक गतियों का संचालन और नियन्त्रण करना है, पित्त का कार्य आदान अर्थात् आग्नेय गुणों के कारण पाचनकर्म और उसका शोषण करना है और कफ का कार्य विसर्ग अर्थात् जलीय गुणों के कारण शरीर में रस का संचार करना है या पोषण करना है। 'दूषयन्ति मनः शरीरं च इति दोषाः' अर्थात् मन और शरीर को दूषित करने के गुण के कारण, इन्हें दोष कहा जाता है। दूषनात् दोषाः धारणात् धातवः अर्थात् वात, पित्त और कफ जब दूषित होकर, रोग उत्पन्न करते हैं, तो दोष कहलाते हैं तथा जब वे साम्यवस्था में रहते हैं, तो सप्त धातुओं व शरीर का

4. 'समान' - समानवायु का आश्रय स्थल छोटी और बड़ी आंत में है। समान वायु भोजन के पाचन तथा मल-दूषणों के

पृथकीकरण को संचालित करती है। यह शरीर के ताप, द्रव्य पदार्थों, पित्त और कफ के कार्यों का भी नियन्त्रण करती है।

5. 'अपानवायु' - अपान वायु मूत्राशय में स्थित है। अपान वायु का मुख्य कार्य मल, मूत्र और वीर्य आदि का निष्कासन करना है। यह वायु स्त्रियों के मासिक धर्म का भी नियन्त्रण करती है। वात प्रधान व्यक्ति शरीर से कमजोर, हल्का और पतले शरीर वाला होता है, उसकी त्वचा रुख, बाल रूखे, आंखे शुष्क, स्वभाव में चंचलता, मानसिक रूप से कमजोर होते हैं। इन्हें सामान्य: श्वास, गला बैठना, आँख, कान, नाक, मानसिक विकार इत्यादि की सम्भावना रहती है। वात हमारे शरीर में संकोचन, प्रसारण, उत्कर्षण, अन्तर्नयन, बहिर्नयन, श्वास-उच्छ्वास, गमन आदि कामों का निष्पादन करता है। रक्तसंचार, मल-मूत्रादि विसर्जन, पाचन, रसस्राव, हृदय स्पन्दन आदि कार्य भी वात के द्वारा ही होते हैं।

2. पित्त-पित्त शरीर का अग्नि तत्व है। जो मानवीय ताप को धारण करता है, भोजन का पाचन कर शरीर के लिए उपयोगी द्रव्यों का निर्माण करता है। यह शरीर में पाचन-संतुलन, रसायनीकरण, यकृत, आमाशय आदि की क्रियाओं का संचालक है। पित्त अग्नि (तेजस् और जरा (आप) महाभूत के संयोग से युक्त होता है। शरीर में पित्त का आश्रय स्थल वक्ष, नाभि का मध्य भाग, स्वेद, लसीका, रक्त का पाचन संस्थान और मूत्राशय होता है। इसके कारण शरीर में प्रज्ञा, दृढ़ विश्वास, उद्यमशीलता और आह्लादपूर्ण होता है। पित्त के अनियन्त्रित होने पर पित्त की अधिकता हो जायेगी, जठराग्नि मन्द हो जायेगी, विदग्धा जीर्ण, कामला, शोथ, ज्वरादि अनेक रोग हो जाते हैं और शरीर में मेद धातु की वृद्धि, शरीर में जलन, पागलपन, अजीर्णता, मधुमेह, जरोदर इत्यादि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। पित्त पाँच प्रकार का होता है- 'आरोचक'- आरोचक पित्त प्रकार की स्थिति शरीर में आँख होती है। यह आँखों के रंग और देखने की शक्ति का कारण होता है। साधकपित्त- यह हृदय में रहता है। यह मानवीय शरीर के बौद्धिता, स्मरण शक्ति और उत्साह के लिए शक्ति प्रदान करता है। 'भ्राजक' पित्त की स्थिति त्वचा में होती है। यह शरीर के ताप को नियन्त्रण में रखते हुए त्वचा की रंगत और सौन्दर्यता को निखारने में सहायक होता है। पाचक पित्त अमाशय और छोटी आंत में रहता है। यह भोजन को पचाने का कार्य करता है। रज्जक पित्त यकृत तथा मूत्राशय में रहता है। यह शरीर में रक्त का निर्माण करता है। यह रसिका द्रव्य को रंगत देता है और शारीरिक प्रतिरक्षण को बढ़ावा देता है। पित्त प्रधान व्यक्ति शारीरिक रूप से मध्यम, गर्म शरीर वाला, पसीना अधिक आने वाला, आँखे लालिमायुक्त होना, अंगों का रंग काला होना, सामान्य से कम बाल होना, शरीर कोमल, झाड़्यों युक्त होना इत्यादि गुणों से युक्त होता है। सामान्यतः इन्हें मुख का कड़वापन, पीलिया, मानसिक रोग, चर्मरोग, नेत्र विकार और गर्मी के रोग इत्यादि रोग हो जाते हैं। पित्त मानव शरीर को ऊष्मा देता है, यह शरीर को रंगत प्रदान करता है। पित्त, पाचन कर्म, पोषण और संवर्धन का कार्य करता है।

3. कफ:- कफ मानव शरीर का जलीय अंश है। कफ में जल और पृथ्वी महाभूत के गुणों की प्रधानता होती है। कफ शरीर में जलीय अंशीय गुण के कारण द्रव्य पदार्थों को धारण करते हुए शरीर की रक्षा करता है और शारीरिक प्रतिरक्षा गुण का भी संवर्धन करता है। मानव शरीर में कफ का आश्रयस्थल कण्ठ के ऊपर का भाग, कण्ठ, सिर, गर्दन, वक्षस्थल, हड्डियों का जोड़, उदर का ऊपरीभाग एवं शरीर की मेद धातु है। कफ के असामान्य होने से उष्णता में कमी, मेद की वृद्धि, अजीर्णता, मधुमेह, जरोदर और आमवात आदि अनेक प्रकार के रोगों के होने की सम्भावना रहती है। इसके प्रकृति के कारण मानव में शान्ति, सहानुभूति, साहसीपन, क्षमावानता और स्नेह गुणों का वास होता है।

आयुर्वेद में कफ पाँच प्रकार का होता है - 'तर्पक कफ' की स्थिति शरीर में सिर होता है। यह कफ मानव शरीर के मस्तिष्क तथा ज्ञानेन्द्रियों को उनके कार्य निष्पादन में सहायता प्रदान करता है 'बोधक कफ' मानव शरीर के जीभ और आहारनाल अङ्ग में व्यवस्थित होता है। यह स्वाद अर्थात् भोजन में स्वाद का अनुग्रह करता है। 'अवलम्बक कफ' मानव शरीर के हृदय और त्रिक में अवस्थित होकर अपना कार्य निष्पादित करता है। यह हृदय के सुचारु रूप से चलने में सहायक होता है। 'क्लेदक कफ' शरीर के अमाशय में रहता है। हम जब भोजन करते हैं, भोजन छोटे-छोटे कणों में बँट जाता है, तब 'क्लेदक कफ' भोजन को आद्रता अर्थात् नमी या द्रव्यता देता है। श्लेष्मक कफ' मानव शरीर के हड्डियों के समस्त जोड़ों में विद्यमान रहता है। यह शरीर में हड्डियों को सुदृढ़ता और शक्ति प्रदान करता है। कफ प्रधान व्यक्ति सुन्दर, शारीरिक रूप से बलवान्, सुन्दर बालों वाले, बड़े और सुन्दर नेत्र वाले, धीरे-धीरे भोजन करने वाले, निद्रालु स्वभाव वाले इत्यादि होते हैं। सामान्यतः इन्हें भूख न लगना, शरीर में भारीपन, आलस, मोटापा, स्मरण शक्ति का विनाश, जोड़ों का दर्द इत्यादि रोग हो सकते हैं, प्रधान व्यक्ति के वर्षा ऋतु और शीत ऋतु प्रतिकूल होती है। इन्हें मोटापा जल्दी ग्रसित कर लेता है।

इस प्रकार यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि वात, पित और कफ एक-दूसरे के पूरक हैं और मिलकर ही कार्य करते हैं। इनकी साम्यावस्था का नाम ही स्वास्थ्य है।

5.4 सप्त धातुएँ

'एते शरीरधारणाद् धातव इत्युच्यन्ते' अर्थात् मानव शरीर को धारण करने की शक्ति के कारण ही इन्हें धातु कहते हैं। शरीर के निर्माण में इनका प्रमुख स्थान होता है, क्योंकि ये शरीर में ऐसे तत्वों का निर्माण करते हैं, जो शरीर का पोषण और धारण करते हैं। सप्त धातुओं के निर्माण में भी पञ्चमहाभौतिक तत्वों का ही योगदान होता है, किन्तु सभी सप्त धातुओं में किसी न किसी महाभूत की प्रधानता होती है। धातुओं की संख्या और क्रम निश्चित है, क्योंकि पूर्व-पूर्व धातुओं के सारभूत तत्त्व से ही उत्तर-उत्तर धातु तत्वों का निर्माण होता है। क्रम से सात धातुएँ इस प्रकार हैं- रस धातु से रक्त धातु, रक्त धातु से माँस धातु, माँस धातु मेद धातु, मेद धातु से अस्थि धातु, अस्थि धातु से मज्जा और मज्जा धातु शुक्र (वीर्य) धातु की उत्पत्ति देखी जाती है।

1. रस धातु:- जठराग्नि के द्वारा भोजन का पाचन होता है, पाचन क्रिया के कारण जो सार भाग उत्पन्न होता है, उसी सार भूत तत्त्व से रस धातु का निर्माण होता है। रस धातु शरीर निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है, इससे रक्त धातु का निर्माण होता है। पूरे शरीर में व्याप्त वायु के द्वारा शरीर का स्नेहन, जीवन, तर्पण, धारण और पोषण करता है। रस धातु की अधिकता और कमी दोनों ही शरीर के लिए हानिकारक होते हैं-मानव शरीर में रस धातु के बढ़ने से पाचन प्रक्रिया में दोष उत्पन्न होने लगता है, उल्टी, शरीर में शिथिलता, अधिक निद्रा, श्वसन प्रक्रिया में अवरोध इत्यादि विकार दिखने लगता है और इसकी कमी से थकान, रूखापन, हृदय रोग, पीलापन, दुर्बलता, बालों में सफेदी इत्यादि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। रस धातु उत्पन्न रोगों की चिकित्सा में रसायन औषधि हितकर होती है।

2. रक्त धातु:- जब मानव शरीर में रस धातु की अग्नि आदि क्रिया के द्वारा रस धातु का रूप रक्त वर्ण में परिणत हो जाता है, तो वह रक्त धातु कहलाता है। रक्त धातु शरीर को जीवन और प्राण देता है। इसलिए इसे जीवन का मूल आधार भी कहा गया है- 'रक्तं जीव इति स्थिति' - सुश्रुत 14.44। रक्त धातु शरीर के वर्ण को निखारता है। रक्त धातु माँस धातु का निर्माण करता है। स्वस्थ मनुष्य का रक्त न अधिक गाढ़ा, न अधिक पतला और यदि कपड़ों पर लग जाये, तो धोने से आसानी से छूट जाता है। वात प्रधान, पित्त प्रधान और कफ प्रधान व्यक्तियों के रक्त क्रमशः तप्त सुवर्ण की तरह, रक्त कमल की तरह और रत्ती के वर्ण की तरह बताया जाता है। रक्त की अधिक और कमी के कारण रक्त कैसर, रक्तपित्त, रक्तप्रदर, कोठ, पीलिया, वातरक्त इत्यादि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इन रोगों की चिकित्सा हेतु आयुर्वेद रक्त के शुद्धिकरण, पोषण और विरेचनादि पञ्चकर्म करने की सलाह देता है।

3. मांस धातु:- आयुर्वेद मतानुसार मानव शरीर में माँस धातु स्वस्थ शरीर का 41% भार रूप होता है। मांस शरीर पुष्टि मेदसश्च पुष्टिं करोति' अर्थात् मांस धातु शरीर की पुष्टि और सुरक्षा करता है और मेद धातु का निर्माण करता है। मानव शरीर में मांस धातु की वृद्धि से शरीर भारी और भद्दा लगता है और माँस की कमी से दुबलापन, सूखापन, इत्यादि शरीर में देखे जाते हैं। इसके कारण शरीर में गलगण्ड, शरीर में गाँठे इत्यादि रोग देखे जाते हैं। माँस वृद्धि हेतु प्रोटीन और वसा युक्त आहार करना चाहिए और कमी के लिए योगाभ्यास और घी, वसा युक्त भोजन का सेवन नहीं करना चाहिए।

4. मेद धातु:- मेद को ही सामान्य भाषा में वसा या चर्बी कहा जाता है। मानव शरीर में मेद जितना अधिक होगा, वह उतना ही स्थूल होगा। 'मेदः स्नेह स्वेदौ दृढत्वं पुष्टिमणां च करोति'- अर्थात् मेद धातु शरीर को स्वेद, स्नेह, कोमलता, सुदृढता और उष्णता प्रदान करती है और मेद अस्थियों को पुष्ट करता है। इनमें श्रमशीलता का अभाव पाया जाता है। शरीर में मेद धातु के अधिक होते से गण्डमारा, उदरवृद्धि इत्यादि रोग या विकार उत्पन्न हो सकते हैं। थोड़े परिश्रम से शरीर थक जाता है। इसकी कमी से शरीर में सूखापन, जोड़ों में दर्द इत्यादि लक्षण दिखाई पड़ते हैं। इसके कारण पसीना अधिक आना, शरीर में जलन, कण्ठ और तालु का सूखना, थकान इत्यादि रोग हो जाते हैं। स्थूलता में उपवास और योगाभ्यास करना चाहिए और कृशला में धृत और दुग्ध का पान करना चाहिए।

5. अस्थि धातु:- मानव शरीर की संरचना उसकी अस्थियों पर निर्भर करती है। अस्थियों का सम्पूर्ण विकास और देखभाल

अस्थि धातु करती है। शरीरस्थ माँस पेशियाँ स्नायुओं के द्वारा अस्थियों पर ही आश्रित होती हैं। अस्थीनि देह धारण मज्जा: पुष्टि च'-अर्थात् अस्थियाँ मानव शरीर को धारण और सुदृढ़ करती है और मज्जा धातु का पोषण करती है। अस्थियों की अधिकता से हड्डियों में पीड़ा, श्मश्रु, नाखूनों में विकार इत्यादि समस्या होती है, कमी के कारण अस्थिक्षय, जोड़ों में दर्द, दाँतों और नाखूनों का टूटना इत्यादि रोग देखे जाते हैं। अस्थि वृद्धि में तिक्त द्रव्यों से युक्त वस्ती कर्म करना चाहिए। अस्थि क्षय में कैल्सियम युक्त आहार का सेवन करना चाहिए जैसे, दूध, दही, पनीर, सूर्य की रोशनी से विटमिन डी को लेना इत्यादि।

6. मज्जा धातु:- आयुर्वेद के मतानुसार मज्जा धातु दो प्रकार माना गया है। पीत मज्जा धातु नलकास्थियों के मध्यविवर और लाल मज्जाधातु गर्भ और शिशु में नलकास्थियों के विवर में विद्यमान होता है। मज्जा धातु सभी प्रकार की अस्थियों का स्नेहन, शुक्र का पोषण और अस्थियों के विवरों के छिद्रों को भरती है। यह बल, शुक्र, रस और मज्जा की वृद्धि करती है- 'बलशुक्ररसश्लेष्ममेदोमज्जविवर्धनः । मज्जा विशेषतोऽस्थे च बलहत् स्नेहने मतः।।' मज्जा धातु की वृद्धि से शरीर में फोड़े होना, मूर्छा, आँखों के रोगादि और मज्जा धातु की कमी के कारण हड्डियों में खोखलापन हड्डियों का टूटना, शुक्र धातु की कमी आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। मज्जा का क्षय होने पर मज्जा प्रधान आहार का प्रयोग करना चाहिए।

7. शुक्र धातु:- शुक्र धातु पुरुष के शरीर में व्याप्त होता है। शुक्र धातु स्फटिक आभा से युक्त, द्रवित, स्निग्ध, शहद से घना होता है। यह सप्तम शुक्र धातु ही मनुष्य के जीवन का आधार भूत है अर्थात् यह गर्भोत्पत्ति में बीज रूप का कर्म करता है। शुक्र धातु के ही धैर्य, निडरता, विपरीत लिङ् के प्रति आकर्षण, उत्साह, पुष्टि, सम्भोग समय आनन्दानुभूति आदि प्रमुख कार्य होते हैं। शुक्र धातु की वृद्धि के कारण काम वासना की अधिकता, शुक्र धातु का अधिक स्राव जैसी समस्या हो जाती है और शुक्र धातु की कमी से दुर्बलता, रक्त की कमी, लिङ्ग में जलन, सम्भोग समय शुक्र धातु का स्राव न होना इत्यादि समस्या होती है। इसके कारण मनुष्य में नपुंसकता, रोगी शिशु का जन्म, अल्पायु संतानोत्पत्ति, विरूप संतान उत्पत्ति जैसी समस्या होती है। अतः शुक्र की अधिकता पर संतुलित आहार और-कमी होने पर शुक्र बढ़ाने वाले आहार द्रव्यों का सेवन करना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जठराग्नि के कारण रस आदि सप्त धातु की अधिकता और कमी हो जाती है, किन्तु तदुपरान्त उनके अनुसार सेवनीय आहार का प्रयोग करना चाहिए। हमारे शरीर में तेरह प्रकार की अग्नियों की स्थिति के कारण इनका क्षय या हास और वृद्धि होती है। अतः इनका साम्यावस्था में रहना आवश्यक होता है। अतः शरीर के मूलाधार ये सात धातु सुरक्षित रहनी चाहिए।

5.5 त्रयोदशाग्नि

मानव शरीर पञ्चमहाभूत, सप्त धातु इत्यादि शरीरोत्पत्ति कारणों से तेरह प्रकार की अग्नियों को धारण करता है। इन सभी अग्नियों का कार्य शरीर को स्वस्थ रखने से है। इन सभी का सञ्चालन अथवा नियन्त्रण सबसे प्रमुख अग्नि जठराग्नि या पाचक अग्नि के हाथों में होता है। मानव शरीर में विद्यमान तेरह अग्नियाँ इस प्रकार हैं- एक जठराग्नि, पाँच भूताग्नियाँ और सात धात्वग्नियाँ।

1. जठराग्नि:- जठराग्नि शरीर में विद्यमान महत्त्वपूर्ण अग्नि है। सामान्य रूप में इसे पाचक अग्नि या कायाग्नि भी कहा जा सकता है। इसका आश्रय स्थल मानव शरीर का आमाशय, छोटी आंत और बड़ी आँत के मध्य नाभि प्रदेश आयुर्वेद-परिचय एवं आधारभूत सिद्धा.., माना जाता है। जठराग्नि अपनी यथाशक्ति के अनुसार मनुष्य के द्वारा खाये गए भोजन का पाचन करती है। मानव शरीर की स्थिति के अनुसार जठराग्नि भोजन को खण्डित करके उसकी शक्ति से भोजन को तरल पदार्थों में परिवर्तित करने शरीर का पोषण करती है। जठराग्नि पाचन क्रिया के माध्यम से मानव द्वारा सेवनीय भोजन को खण्डित करके शरीर के आयु, वर्ण, स्वर, शक्ति, उत्साह, शारीरिक तापमान का नियन्त्रण रखती है और अन्य सभी 12 अग्नियों को क्रियाशील बनाये रखने का प्रयत्न करती है या सहायता करती है। इन सभी कार्यों के करने के लिए जठराग्नि की साम्यावस्था उत्तरदायी होती है। अगर शरीर में यह अवस्था न हो, तो शरीर रोग से ग्रसित हो जाता है। जठराग्नि चार प्रकार की हो सकती है-

1.1 विषमाग्नि:- विषम अग्नि कभी अत्यधिक तेज होकर कभी भोजन का पाचन शीघ्र, कभी अत्यधिक मन्द होकर भोजन का पाचन कभी बहुत धीरे और कभी समान होकर भोजन का पाचन सामान्य रूप में ठीक ढंग से पचाती है। जिसके कारण मानव शरीर में पेट में तेज दर्द, भारीपन, अतिसार कब्ज और

जलोदरादि जैसे रोगादि उत्पन्न हो जाते हैं। अग्नि की यह अवस्था वात दोष की वृद्धि के कारण होती है।

1.2 तीक्ष्णाग्नि:- नाम के अनुसार ही यह जठराग्नि अत्यधिक तीव्र होती है, जिसके कारण अधिक मात्रा में खाये गये भोजन भी बहुत जल्दी पच जाता है, जिससे मनुष्य अधिक खाने लगता है और इसका विपरीत परिणाम होता है, अवस्था में शरीर में गले, ओठ और तालु में सूखापन होने लगता है। मनुष्य को अत्यधिक गर्मी भी लगने लगती है। इस अग्नि को भस्म भी कहा जाता है, क्योंकि यह सबकुछ को भस्म कर देती है। जठराग्नि की इस अवस्था भेद की स्थिति मानवशरीर में पित्त दोष की अधिकता के कारण होती है।

1.3 मन्दाग्नि:- इस अवस्था में जठराग्नि अत्यधिक मन्द गति वाली हो जाती है। जिस कारण अत्यधिक अल्प मात्रा में खाये गये भोजन का भी पाचन ठीक प्रकार से नहीं हो पाता है। इस कारण शरीर के पेट और सिर, अङ्गों में भारीपन, श्वसन प्रक्रिया का बाधित होना, उल्टी, शरीर में विकारादि उत्पन्न हो जाते हैं। अग्नि की यह अवस्था कफ दोष के कारण होती है। अत्यन्त सहायक है। जठराग्नि की समाग्नि समय पर और उचित मात्रा में खाये।

1.4 समाग्नि:- जठराग्नि की समान अवस्था शरीर के स्वस्थ रहने में आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त गये भोजन का पाचन कार्य ठीक प्रकार से करके शरीर को निरोग रखती है, क्योंकि इस समय भोजन का पाचन न अधिक, जल्दी, न अधिक मन्द होता, अपितु समान स्थिति में हो जाता है। इस अवस्था में वात, पित्त और कफ-ये तीनों दोष भी मानव शरीर में समानवस्था में ही रहते हैं।

2. भूताग्नियाँ:- पञ्चमहाभूतों की प्रधानता को केन्द्रित करके यह अग्नियाँ भी पाँच प्रकार की हो जाती है। ये पञ्चभूताग्नियाँ जठराग्नि के द्वारा किये गए पाचित खाने का अपने महाभूत के अनुरूप रस में परिवर्तन करती हैं और उनका पाचन करती हैं। यह भूताग्नि का समूह मानव शरीर के यकृत अंश में विद्यमान रहता है और भोजन को पाँच अङ्गों में विभक्त करके अपने-अपने महाभूत से संयोग करके शरीर का पूर्णता पोषण और सम्बद्धन प्रदान करती है। पञ्च महाभूतों के आधार पर यह पञ्चभूताग्नि इस प्रकार हैं- 1. भौमाग्नि, 2. आप्याग्नि, 3. आग्नेयाग्नि, 4. वायव्याग्नि और 5. आकाशाग्नि। 3. धात्वग्नियाँ:- सप्त धातुओं से युक्त होने से यह अग्नियाँ भी सात प्रकार की हो जाती है। यह सप्तधात्वग्नियाँ जठराग्नि और पञ्चभूताग्नि के द्वारा किये गए पाचित भोजन के अंश का परिवर्तन अपने-अपने धातुओं के अंशों के अनुसार करके पुनः इसका पाचन करती हैं। इन धात्वग्नियों के तीव्र होने सम्बद्ध धातु की वृद्धि और मन्द होने से सम्बद्ध धातु भी क्षय को प्राप्त होते हैं। जिसके कारण रोगादि विकार उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार मानव शरीर में सात धातुएँ विद्यमान हैं, उसी कारण उनकी अग्नि भी सात प्रकार की हो जाती है, जो शरीर में विद्यमान रहकर अपना कार्य करती है। ये सप्तधात्वग्नियाँ इस प्रकार हैं- 1. रसाग्नि, 2. रक्ताग्नि, 3. मांसाग्नि, 4. मेदोग्नि, 5. अस्थ्याग्नि, 6. मज्जाग्नि और 7. शुक्राग्नि पुरुषों में और रजोग्नि स्त्रियों में पाचन क्रिया की सम्पादन करती है।

इस प्रकार ये सभी अग्नियाँ संयुक्त होकर भोजन को किस प्रकार शरीर के अनुरूप बनाती है। यह अत्यन्त सूक्ष्म प्रक्रिया के साथ दर्शनीय तत्त्व भी है। यदि ये अग्नि न हो, तो भोजन का पाचन ही सम्भव नहीं है और यदि अग्नि नष्ट होजाये, तो मानव शरीर भी नष्ट हो जायेगा।

5.6 त्रिमल

और भोजन के सार तत्त्व से धात्वादि और पञ्चभूतादि का निर्माण और पोष होता है, वही भोजन के असार तत्त्व अर्थात् मल पदार्थों का निर्माण होता है। क्योंकि ये मल पदार्थ मानव शरीर को दूषित करके विकारादि से ग्रसित कर । हैं, अतः ये मल कहलाते हैं। मानव शरीर के स्वस्थ रहने में यह मल पदार्थ हानिकारक होते हैं, इसलिए इनका विसर्जन आवश्यक होता है। यदि ऐसा न हो तो शरीर विविध प्रकार के रोग से ग्रसित हो जाता है। इन मल पदार्थों में भोजन के असार तत्त्व के अतिरिक्त चयापचय क्रिया के कारण अवशिष्ट पदार्थों में बढ़ा हुआ वात, पित्त, कफ, व्यर्थ के तत्त्व इत्यादि भी सम्मिलित होते हैं। सामान्यतः मल पदार्थ स्वाभाविक क्रिया के द्वारा ही शरीर में त्रिमल अङ्गों की ओर विसर्जित होने के लिए गति करते हैं, किन्तु किसी कारण वश यदि ऐसा न हो, तो उन्हें निकालने का प्रयास करना चाहिए। मल, मूत्र, पसीना, नाखून, बाल, शरीर से निकलने वाला मैल, बलगम इत्यादि सभी मल

हैं, किन्तु महत्त्वपूर्ण होने के कारण यह तीन ही मूल मल पदार्थ माने जाते हैं। इनका निरूपण किया जा रहा है-

1. पुरीष (मल):- पुरीष पदार्थ का निर्माण शरीर में भोजन के पाचन से अवशिष्ट असार भाग के अतिरिक्त ऊतकों के द्वारा निकाले गए व्यर्थ पदार्थों के संयोग से होता है। इसी कारण विना खाये व्यक्ति में भी पुरीष मल की विद्यमानता होती है। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए पुरीष का शरीर से बाहर निकलना अत्यधिक आवश्यक है। यदि उसका विसर्जन ठीक प्रकार से नहीं होता है, तो पेट के रोग, कमर दर्द, आमवात, पक्षाघात, दमा इत्यादि जैसी व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। विसर्जन का ठीक प्रकार से न होना आँतों में कीड़े की वृद्धि को बढ़ा देता है। शरीर के लिए लाभकारी जीवाणु को ग्रसित करके शरीर को रोगी कर देते हैं। इसीलिए प्रायः सभी आयुर्वेदिक चिकित्सा में पेट खाली करने हेतु औषधि देने की विधान किया जाता है। पुरीष मल पदार्थ के साथ ही शरीर, वात और अग्नि को धारण भी करता है। पुरीष आन्त्र का पोषण भी करता है। यदि मनुष्य में पुरीष न हो, तो उसी आत्र सिकुड़ जाती है, किन्तु पुरीष की अधिक मात्रा पेट दर्द, अफारा, शरीर में भारीपन को जन्म देता है। पुरीष की कम मात्रा से अतिसार, आँतों में ऐंठन इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं। पुरीष को बढ़ाने के लिए उड़द, जौ, पत्तेवाली सब्जियाँ, चोकर वाले आटे का प्रयोग हितकारी होता है।

2. मूत्र:- मानव शरीर की आद्रता का नियन्त्रण मूत्र के माध्यम से ही होता है। मूत्र के माध्यम से शरीर के व्यर्थ के पदार्थ या तरल अंग ही विसर्जित होते हैं। स्वस्थ रहने के लिए गर्मी और शीत, दोनों ऋतुओं में ही अधिक मात्रा में जल पीने की सलाह दी जाती है, जिससे व्यक्ति कम से कम छः बार मूत्र का त्याग करके अपने शरीर के तरल हानिकारक पदार्थ का विसर्जन करें। आयुर्वेद मतानुसार मूत्र त्याग तक स्वाभाविक विरेचक है, जो शरीर से विषैले द्रव्यों को विसर्जित करके शरीर को स्वस्थ रखता है। मूत्र की अधिकता के कारण वस्ति प्रदेश में दर्द, भारीपन और बैचेनी, मूत्र की कमी से वस्ति प्रदेश में पीड़ा, मूत्र त्यागते समय दर्द, अधिक प्यास इत्यादि विकार शरीर में दिखाई पड़ते हैं। इन अवस्थाओं से उबरने के लिए तरल पदार्थों का सेवन करना चाहिए, जैसे गन्नेका रस, अम्ल, लवण, युक्त तरल पदार्थ आदि।

3. स्वेद (पसीना):- त्वचा को स्वस्थ रखने के लिए शरीर में पसीना निकलना एक स्वाभाविक प्रक्रिया स्वरूप ही है। इस प्रक्रिया के माध्यम से शरीर में के व्यर्थ पदार्थ शरीर से निकल जाते हैं और त्वचा सुन्दर और कोमल बनी रहती है। पसीना का निकलना शरीर के ताप को भी नियन्त्रण कर देता है; जिससे शीत और ग्रीष्म दोनों ऋतुओं में शरीर का ताप समान बना रहता है। सामान्यतः पसीना हर मौसम में विसर्जित होता है, किन्तु इसका अनुभव हमें ग्रीष्म ऋतु में अधिक होता है। अधिक मात्रा में पसीना आने से त्वचा में दुर्गन्ध, खुजली और कम मात्रा में पसीना आने से त्वचा में रूखापन और त्वचा का फटना इत्यादि विकार देखने को मिलते हैं। विभिन्न उपायों के द्वारा स्वेद या पसीना बहने की मात्रा को संतुलित किया जा सकता है। जैसे व्यायाम, स्वेदन, पदार्थों का अतिसेवन स्वेद को बढ़ाता है और इसके विपरीत क्रिया स्वेद की तरल मात्रा को कम करती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो पाता है, मल पदार्थ भी किसी न किसी रूप से शरीर को स्वस्थ रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं क्योंकि यह शरीर का भरण और पोषण भी करते हैं, किन्तु इनकी संतुलित मात्रा ही शरीर के लिए आवश्यक है। आयुर्वेद के ये मूल सिद्धान्त ही मानव शरीर की आयु का खयाल रखते हैं, उसका संवर्धन करते हैं। आयुर्वेद के त्रिदोष, सप्त धातु, पंचमहाभूत और मल किसी न किसी रूप में भरण और पोषण तो करते ही हैं और यदि प्रकुपित हो जाये तो आयु का नाश भी कर देते हैं। अतः इनको स्वस्थ और संतुलित रखना अत्यन्त आवश्यक है।

Lecture by Ritu Mishra

Semester -5

Department of sanskrit

Shivaji college